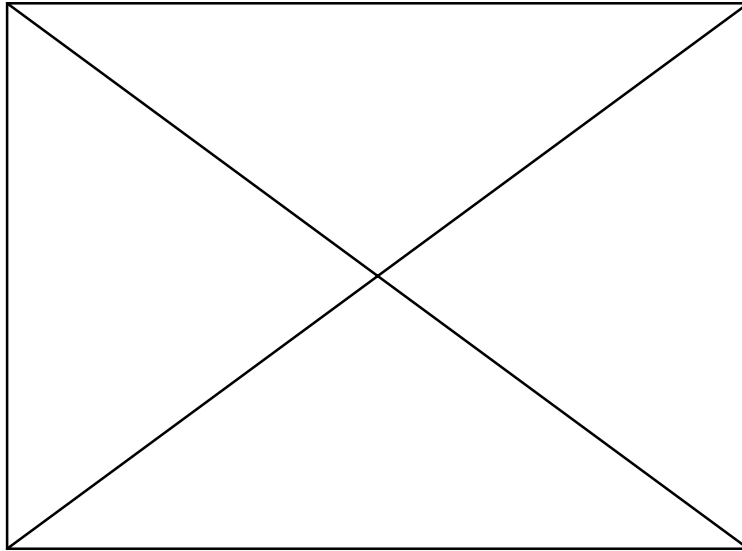


“गंभीरता में बड़ी सुंदरता होती है; यह कोई पीड़ा नहीं है, यह कोई ऐसी बात नहीं है जिसके बारे में आपको परेशान होना पड़े। जीवन गंभीर होता है और केवल वही व्यक्ति जो सचमुच गंभीर है जानता है कि कैसे जिया जाए, न कि वे लोग जो कि बातूनी व बड़बोले होते हैं, और वे भी नहीं जो केवल मौज-मस्ती की चाहत में रहते हैं।”

-जे. कृष्णमूर्ति



जे. कृष्णमूर्ति परिसंवाद

वर्ष : 11 अंक : 4

जून 2017

कृष्णमूर्ति फाउंडेशन इंडिया, वाराणसी की त्रैमासिक हिंदी पत्रिका
सितंबर, दिसंबर, मार्च एवं जून में प्रकाशित

संपादक : चैतन्य नागर

पृष्ठ संख्या

ज्ञान मन को नहीं बदलता	5
समूचे जीवन की पड़ताल जरूरी	21

वार्षिक शुल्क : रु. 150.00

पांच वर्ष के लिए : रु. 600.00 दस वर्ष के लिए रु. 1000.00

खुद को
अमझने की
जकुरत है

जिदू कृष्णमूर्ति लगातार खुद को जानने-समझने पर जोर देते रहे हैं। उनका तर्क यही था कि खुद को जाने बगैर हमारे सोच-विचार का कोई भी ठोस आधार निर्मित नहीं हो पाता। यदि सोच-विचार का कोई आधार नहीं बन पाता तो स्वाभाविक है कि उनपर आधारित रहने वाले, उनसे उपजने वाले हमारे काम-काज का भी कोई आधार नहीं रह जाता। इसका सीधा परिणाम हम अपने व्यक्तिगत और समष्टिगत जीवन में देखते हैं जहाँ दोनों ही स्तर पर समान रूप से अफरातफरी और ऊहापोह का वातावरण बना रहता है। अपनी उलझनों में फंसे लोग एक ऐसे ही समाज का निर्माण कर सकते हैं जहाँ हर जगह आपका तरह तरह की उलझनों से सामना होता है। सिर्फ उलझने ही नहीं, बल्कि एक भयावह और बहुत ही गहरे संकट की उपस्थिति हर ओर दिखाई देती है। कृष्णजी इस बात को बड़े ही सटीक और सरल तरीके से हमारे सामने रखते हैं। उनका कहना है—

“...तो, इस संसार को भली-भांति देख लेने के बाद यदि आप इसके

तमाम विवरण-वर्णन को एक तरफ़ कर दें क्योंकि यह संसार तो विवरण का पिटारा है—दुख, व्यथा-वेदना, क्रूरता, हिंसा, आदमी को लकीर का फ़कीर बनाने की कोशिश करने वाले समुदाय, आर्थिक संघर्ष के साथ चलता रक्त-रंजित युद्ध, अपने छल-कपट और भ्रष्ट आचरण वाले ये राजनेता वगैरह, वगैरह— इस सब को अगर आप एक तरफ़ कर दें, तो आप खुद को देख पायेंगे। लेकिन, खुद को देख सकने के लिए गंभीरता की आवश्यकता पड़ती है, क्योंकि बाहरी तौर पर आप जिसे झुठला रहे हैं, भीतर से तो आप वही हैं। पता नहीं आपने यह देखा व महसूस किया है या नहीं। जो कुछ आपने बाहर बनाया है वह आपके भीतर का ही तो चित्रण है, क्योंकि हम बहुत हिंसक है, छली, कपटी, फ़रेबी, और दगाबाज़ हैं, हमारे पास तरह-तरह के मुखौटे हैं जिन्हें हम आवश्यकतानुसार पहनते रहते हैं, हम तरह-तरह के ढोंग व आडम्बर करने वाले हैं। और, इस सब के दौरान हम सुरक्षा की चाहत भी रखते हैं। तो, जैसे हम हैं वैसा ही यह संसार हो गया है। है न? इस बात को देखिए...”

आखिरकार बात हम तक, प्रत्येक व्यक्ति तक आकर ही ठहर जाती है। समाज की समस्याओं के लिए हम खुद ही जिम्मेदार हैं, हममे से प्रत्येक इंसान। यह एक असाधारण मांग है, अभूतपूर्व जिम्मेदारी है पर शायद हमारा संकट भी असाधारण ही है।

—संपादक



ज्ञान मन को नहीं बदलता

चूंकि हमें सात वार्ताएं और सात परिचर्चाएं करनी हैं इसलिए हमें थोड़ा आराम से और उन अनेक समस्याओं पर गौर करते हुए आगे बढ़ना चाहिए जो कि न केवल बाहरी दुनिया में मौजूद हैं बल्कि हमारे भीतर भी बनी हुई हैं। मुझे लगता है कि जो बात सबसे अधिक महत्वपूर्ण है वह यह है कि जब हमारा सामना इन तमाम विकट व विकराल समस्याओं से हो, तब सारे मामले में असल मुद्दा रहता है मन का पूरा रूपांतरण किया जाना। मुझे तो यही सबसे बड़ा सरोकार, सबसे बड़ा विषय लगता है, न कि समस्या के शुरुआती विस्तृत विवरण में उलझ जाना, बल्कि इस बात पर ध्यान देना कि बाहरी और भीतरी समस्याओं के संशयों को दूर करने के लिए हमें एक बिल्कुल ही अलग तरह के मन की आवश्यकता होगी। और, यहां होने वाली सभी वार्ताओं में हमारा मुख्य विषय यही रहेगा—क्या हम इंसानों के लिए यह संभव है कि हम स्वयं में मनोवैज्ञानिक रूप से, आंतरिक रूप से एक बुनियादी बदलाव ला सकते हैं? वरना तो इन समस्याओं से पार पाने का, या उनमें

कोई बदलाव लाने का कोई साधन हमारे पास होगा ही नहीं।

मुझे आशा है कि आप और मैं इस बात को एक ही नज़र से देख रहे हैं, और इसे न केवल शाब्दिक रूप से बल्कि शब्दों से परे जाकर भी समझ रहे हैं कि इन समस्याओं के लिए—वे चाहे आर्थिक हों, सामाजिक हों, धार्मिक हों या व्यक्तिगत हों—हमें एक ऐसा दिल, एक ऐसा दिमाग चाहिए जो कि विचारों का पुलिंदा ना हो। विचार हमारी समस्याओं को सुलझाने वाला नहीं है, क्योंकि इन समस्याओं का तो जन्म ही विचार की हरकतों से हुआ है। तो, हमारी इन वार्ताओं और परिचर्चाओं का विषय यही रहने वाला है—एक बुनियादी, मौलिक, वास्तविक, आमूल मनोवैज्ञानिक बदलाव लाना।

सबसे पहली बात तो यह है कि हम अपनी बात को एक दूसरे तक शब्दों के माध्यम से पहुंचा रहे हैं। शब्दों का महत्व बड़ा अद्भुत है। जब मैं किसी शब्द को बोलूंगा तो वह आपके अंदर एक प्रतीक, एक धारणा, एक सूत्र, एक छवि रच देगा, और जो कुछ कहा जा रहा है उसके प्रति आप उस छवि के अनुसार ही प्रतिक्रिया करने लगेंगे। मैं यदि 'मुक्ति' शब्द का प्रयोग करूंगा तो आप मुक्ति के बारे में अपनी ही एक धारणा पाले हुए होंगे कि वह क्या होती है, या कि वह कैसी होनी चाहिए। तो, जब आप इस 'मुक्ति' शब्द को सुनें तो उसके बारे में आपके मन में पहले से ही एक छवि बनी बैठी होगी, पहले से ही एक प्रतीक, एक निष्कर्ष बना हुआ होगा। लेकिन, हो सकता है कि वक्ता उस शब्द का एक बिल्कुल ही भिन्न अर्थ लेकर बोल रहा हो। तब, सम्प्रेषण, यानी अपनी बात को दूसरे तक पहुंचाना असंभव हो जाता है। सम्प्रेषण केवल तभी संभव होता है जब आप और मैं किसी शब्द को एक ही अर्थ में ले रहे हों और उस अर्थ को साथ-साथ लेकर चल रहे हों। यही होता है यथार्थ सम्प्रेषण, न कि यह कि आप एक छवि रखे रहें और मैं कोई और छवि बनाए रखूँ। तब सम्प्रेषण करना असंभव हो जाता है। परस्पर सम्प्रेषण के लिए हमें शब्दों का प्रयोग करना

पड़ता है, हालांकि सम्प्रेषण शायद अशाब्दिक रूप से भी संभव हो सकता हो लेकिन पहले हमें शाब्दिक सम्प्रेषण को ही समझना होगा, परंतु यह बात कुछ कठिन लगेगी क्योंकि पहले तो हमारा सरोकार मुक्ति शब्द से है। मैं इस शब्द का प्रयोग केवल शब्दकोश वाले अर्थ में, इसके वास्तविक रूप में कर रहा हूँ, बिना इसे वैयक्तिकता या काल्पनिकता या वैचारिकता का कोई रंग दिए। मुक्ति, स्वतंत्रता, आज़ादी का अभिप्राय होता है वह क्षमता जिससे आप किसी भी तरह की भावुकता, कल्पना या प्रतीक के बिना ही अवलोकन कर सकते हों, देख सकते हों। और हम यही करने जा रहे हैं, हमारे चारों ओर संसार जैसा है उसे यथावत देखने जा रहे हैं, और हम खुद को भी वैसा ही देखने जा रहे हैं जैसे कि हम हैं। लेकिन, इस योग्य होने के लिए कि हम व्यक्तिगत चश्मे से न देखें, यानी बिना किसी धारणा के, बिना किसी निर्णय-निष्कर्ष के देखें और इस तरह से देखने के लिए, अवलोकन करने के लिए हमें पूरी स्वतंत्रता की आवश्यकता होती है। अन्यथा तो आप शायद देख ही न पाएं। तो इस पहले बिंदु पर हम स्पष्ट हो जाएं।

हम अपने बाहरी संसार को देखने जा रहे हैं—राजनैतिक रूप से जो कुछ हो रहा है, आर्थिक संघर्ष जो चल रहा है, और अनेक प्रकार के धार्मिक, संगठित पंथ, साम्यवाद, समाजवाद और पूंजीवाद के कई फाड़, देशों के बीच तरह-तरह के द्वंद्व—इन सभी का हम अवलोकन करने, इन्हें देखने हम जा रहे हैं। लेकिन, इनका अवलोकन करने के लिए आवश्यक है कि आपका मन पहले से ही एकत्र किसी निष्कर्ष, किसी पूर्व-ज्ञान से भरा न हो। क्योंकि अगर आपके भीतर ऐसा पूर्व-ज्ञान या निष्कर्ष या मत-सम्मत भरा हुआ है तो आप स्वतंत्र रूप से, मुक्तभाव से देखने में सक्षम नहीं होंगे।

क्या मेरा मन, और आपका मन, किसी समस्या को देखता भी है? किसी ख़ास समस्या को नहीं, जैसे स्विट्ज़रलैंड की समस्या या अमेरिका या यूरोप या भारत की समस्या; बल्कि

विश्व की समस्या, वह भी इस तरह जैसे कि वह कोई नक्शा देख रहा हो? नक्शे को ऐसे देखना नहीं कि आप किधर जा रहे हैं, क्योंकि अगर आप नक्शे को केवल यह जानने के लिए देख रहे हैं कि आप किधर जा रहे हैं तब तो नक्शे को देखने-समझने वाली बात से आपका कोई सरोकार ही नहीं रह जाता है।

इन बातों पर कृपया ध्यान दीजिए।

हमारे लिए, कम से कम मेरे लिए तो अवश्य ही, यह एक गंभीर विषय है क्योंकि विश्व में जो कुछ हो रहा है वह बहुत भयंकर है, भयानक है। हमने ही इसे ऐसा बनाया है और इसे ऐसा बनाए रखने में हम ही योगदान कर रहे हैं। यह विश्व हमारी हवस, इच्छाओं, ऐश्वर्याकांक्षाओं, क्रूरताओं, आडम्बरो, प्रतिष्ठाओं इत्यादि द्वारा रचा हुआ है। यह हमारी ज़िम्मेदारी है क्योंकि इसे ऐसा हमने ही बनाया है। हम ही यह विश्व हैं और यह विश्व ही हम हैं। कोई भी व्यक्ति जिसमें थोड़ी भी समझ है, जिसने थोड़ा भी अवलोकन किया है, जो कुछ विश्व में हो रहा है उसके बारे में पढ़ा है, उसे अत्यंत गंभीर हो जाना चाहिए। और मुझे आशा है कि आप लोग भी इस बात की गंभीरता को समझ रहे होंगे न कि केवल इस सुबह को यह वार्ता सुनते हुए बस यों ही गुज़ार रहे होंगे और फिर यों ही लापरवाह भी हो जायेंगे, इस वार्ता को एक मनोरंजन की तरह, एक गपशप की तरह ले लेंगे। यह न तो कोई मनोरंजन है और न ही कोई बौद्धिक-विलास है, बल्कि यह एकजुटता से गंभीर होना है, एक ऐसा उपयुक्त वातावरण बनाना है जिसमें हम मिलजुल कर अपने जीवन की समस्याओं के बारे में बता सकें, चर्चा कर सकें, बात कर सकें। लेकिन इसके लिए चाहिए होता है अवधान, फ़िक्र, लगाव, प्रेम; और यह सब तभी आता है जब पूरी गंभीरता हो।

तो, जैसा कि मैंने कहा, हम विश्व को देखने जा रहे हैं, लेकिन आपकी आंख से या मेरी आंख से नहीं, आपके मत या मेरे मत के अनुसार नहीं, बल्कि पूरी स्पष्टता के साथ देखने

जा रहे हैं। लेकिन ऐसा आप तभी देख सकते हैं जब आप देखने में स्वतंत्र हों, किंतु स्वतंत्र रूप से देख पाने में ही हमें सबसे अधिक कठिनाई होती है, न केवल बाहर देख पाने में कि क्या हो रहा है, बल्कि खुद अपने भीतर देख पाने में भी यही कठिनाई आती है। अगर आप स्वतंत्रता से, मुक्तभाव से इस संसार को देख सकें और फिर खुद को भी बिना किसी नतीजे या निष्कर्ष के देख सकें, तब आप खुद यह देख पायेंगे कि जैसे आप हैं वैसा ही यह संसार है और जैसा यह संसार है वैसा ही आप हैं। देखिए, इस बात को समझिए—बौद्धिक रूप से, शाब्दिक रूप से या सैद्धांतिक रूप से नहीं बल्कि इसे सचमुच समझिए, इसका बोध कीजिए, इसका अनुभव कीजिए, तब आप स्वयं यह देख पायेंगे कि मानव इस संसार में रहते हुए, जिसे कि उसने ही रचा है, उसके लिए वह क्या कर सकता है, बल्कि उसे क्या करना चाहिए। हममें से हर एक के अलावा किसी और ने इस संसार को अजब और अजीब नहीं बनाया है—अपनी शिक्षा द्वारा, अपनी ललक व लालसा द्वारा, अपनी देशभक्ति द्वारा, अपनी हिंसा व क्रूरता द्वारा, सुखभोग तलाशती अपनी चाहतों द्वारा और सुरक्षित रहने की अपनी कामना द्वारा हमने ही तो इसे ऐसा बनाया है। और इसमें बुनियादी बदलाव लाने के लिए—जिसे लाया जाना अत्यंत आवश्यक हो गया है—हममें से हर एक को खुद में पूरी तरह बदलाव लाना होगा, और इसलिए संसार के साथ अपने रिश्ते में भी।

मैं नहीं जानता कि इस विषय में आप लोग कितने गंभीर हैं, क्योंकि ऐसे दो ज़ेहन, दो जने ही मिल सकते हैं जो कि गंभीर हों, जिन्हें सरोकार हो, फ़िक्र हो—सिर्फ बोलने के लिए नहीं, केवल बौद्धिक चर्चा के लिए नहीं, बल्कि अपने दिल से, दिमाग़ से, अपने पूरे कार्यकलाप में गंभीर हों। लेकिन मैं नहीं जानता कि आप अपने आशय के प्रति कितने गंभीर हैं। हो सकता है कि अगले कुछ हफ़्तों तक चलने वाली इन वार्ताओं में आप आएँ लेकिन हो सकता है कि आप इन्हें एक बौद्धिक-विलास की तरह ले रहे हों, या एक नए तरह का

अनुभव पाने की इच्छा कर रहे हों, या अपने औसत दर्जे के जीवन में थोड़ा-बहुत बदलाव ले आएँ। यह गंभीर होना नहीं है। गंभीर होने का अर्थ है कि आप जीवन की सर्वांगीण समस्या के प्रति सरोकार रखते हों, उसके प्रति फिक्रमंद हों, न कि उसके किसी एक हिस्से के लिए—जैसे, खुद की सुरक्षा, या अपनी ही मुक्ति। जिस क्षेत्र के बारे में आप विमर्श करने जा रहे हैं, वह बहुत विशाल है, वह हमारे समूचे जीवन का क्षेत्र है, हमारा समूचा जीवन केवल कोई बौद्धिक कल्पना कर लेना और बौद्धिक स्तर पर जी लेना मात्र नहीं है। हमारा जीवन केवल कोई बौद्धिक व भावनात्मक अवधारणा नहीं है, अनुराग, प्रेम, सेक्स, पैसा जोड़ना, भय, सुखभोग, पीड़ा, दुख, मरण, ये सब हमारा जीवन है, इसमें बहुत-कुछ शामिल है। और अगर हम गंभीर नहीं हैं, और यह मैं गंभीरतापूर्वक कह रहा हूँ कि अगर हम गंभीर नहीं हैं, तो यह सब सुनना बेकार है। उधर टेनिस खेला जा रहा है, वहां जाकर बैठें, या जाकर उन खूबसूरत पहाड़ियों पर चढ़ें, नदियों को बहते हुए देखें। लेकिन अगर आप पैसा खर्च करके, यात्रा करके सुनने के लिए यहां आए हैं तो हमें कुछ समय गंभीरता के साथ बिताना होगा। और, गंभीरता में बड़ी सुंदरता होती है, यह कोई पीड़ा नहीं है, यह कोई ऐसी बात नहीं है जिसके बारे में आपको गंभीर होना पड़े। जीवन गंभीर होता है और केवल वही व्यक्ति जो सचमुच गंभीर है जानता है कि कैसे जिया जाए, न कि वे लोग जो कि बातूनी व बड़बोले होते हैं, और वे भी नहीं जो केवल मौज-मस्ती की चाहत में रहते हैं।

तो, आइए सबसे पहले संसार के इस पूरे नक्शे पर खुल कर एक नज़र डालें—न कि अपने छोटे से गांव या अपने छोटे से आंगन या अपने क्षुद्र मन के नक्शे पर, बल्कि संसार के पूरे नक्शे पर। देखिए, सबसे कठिन कामों में से एक है पूर्वाग्रह से ग्रस्त न होना, किसी निष्कर्ष पर न पहुंच जाना, कोई छवि न बनाना; और अगर आप संसार के इस अद्भुत नक्शे को देखना चाहते हैं तो आप कोई निष्कर्ष नहीं पाल सकते, इसे

देखने के लिए आपको मुक्त भाव से, प्रसन्न भाव से, कुछ ढूँढने, औरों के साथ कुछ बांटने के भाव से आना होगा।

निश्चय ही, आपने देखा होगा कि यह संसार कितना भयानक और पतनोन्मुख होता जा रहा है। हर साल मैं अनेकों देशों में जाता हूँ, पिछले पचास सालों से मैं ऐसा करता आ रहा हूँ, और यह गिरावट देखता आ रहा हूँ—नैतिक भी, आध्यात्मिक भी और राजनैतिक भी। इन सब में बहुत अधिक भ्रष्टाचार आता जा रहा है, उच्च स्तर पर भी और उन गरीब लोगों में भी जिन्हें कि कोई जानता भी नहीं है। अंग्रेज़ी के 'करण' शब्द का अर्थ है अलग हो जाना, और यही हो रहा है, सारे संसार में अलगाव बढ़ रहा है। आप देख ही रहे होंगे कि राजनैतिक स्तर पर क्या हो रहा है। सरकारें भ्रष्ट हो रही हैं—कोई कम, कोई ज़्यादा, लेकिन सभी सरकारें हैं भ्रष्ट ही। यह कोई मेरी राय नहीं है। यह आपके ही चारों ओर हो रहा है, बशर्ते कि आप देख रहे हों। और इसलिए किसी बदलाव के लिए राजनेताओं की तरफ़ या सरकारों की तरफ़ देखना कोई मायने नहीं रखता। तो, ये नेता, ये सरकारें, ये नौकरशाह व्यक्ति की मदद करने वाले या बदलाव के लिए उसकी मदद करने वाले नहीं हैं। वे उसकी मदद आर्थिक, सामाजिक इत्यादि रूप से भले ही कर दें, लेकिन व्यक्ति में भीतर से, मनोवैज्ञानिक रूप से, आमूल परिवर्तन लाने में मददगार नहीं हो सकते। इसलिए उनका मुँह ताकना आपके लिए बेकार है क्योंकि वे लोग नैतिक रूप से भ्रष्ट हैं। न ही आप व्यावसायिक वर्ग से मदद मांग सकते हैं—उनके बारे में तो मुझसे ज़्यादा आप जानते हैं। और न ही किसी संगठित धर्म से, क्योंकि सारे संगठित धर्म किसी न किसी विश्वास, रूढ़ मत-सिद्धांत, रीति-रिवाज़, या *अथॉरिटी* पर ही आधारित हैं—सब के सब। इसलिए वे तो बस फ़िरके हैं। उनमें कुछ आकार में बड़े तो कुछ बहुत बड़े हो सकते हैं लेकिन वे सब हैं संप्रदाय ही, फ़िरके ही, और इसलिए वे मानव मन के लिए मुक्ति या परिवर्तन लाने वाले नहीं हो सकते क्योंकि मूलभूत रूप से वे सभी विचार पर आधारित हैं।

न ही आपको किसी गुरु, किसी दार्शनिक या किसी धार्मिक ग्रंथ की शरण में जाने की आवश्यकता है। दर्शन का अर्थ होता है अपने दैनिक जीवन में सत्य से प्रेम करना, इसका अर्थ किसी अलग सत्य या किसी बौद्धिक सत्य से नहीं है और न ही किसी ऐसे सत्य से है जिसे किसी चतुर-चालाक, छली-कपटी, अपने कृतर्क से गुमराह करने वाले किसी आलिम दिमाग ने इजाद कर लिया हो।

तो इसके लिए आपको किसी उपदेशक के पास, किसी गुरु, किसी पुरोहित-पादरी-मौलवी, किसी धर्मग्रंथ के पास जाने की आवश्यकता नहीं है क्योंकि जो संसार आप अपने चारों तरफ़ देख रहे हैं वह इन्हीं का तो करा-धरा है। तो, क्या हमारा मन इस सब को त्याग सकता है, इस सब को पूरी तरह नकार सकता है, खंडन कर सकता है? आप समझ रहे हैं न कि मैं किस बारे में बात कर रहा हूँ? स्पष्टता के लिए, स्पष्ट दर्शन के लिए, स्पष्ट समझ के लिए किसी और का मुंह ताकने की आपको आवश्यकता नहीं है। यदि आप ऐसा करते हैं तो आप *अथॉरिटी* को स्थापित कर रहे होते हैं। और, जब आप सत्य की खोज में किसी को किसी भी रूप में *अथॉरिटी* मान लेते हैं तो आप सत्य ही को नकार रहे होते हैं। आशा करता हूँ कि आप इस बात के औचित्य को तो देख ही रहे होंगे, इसकी युक्तिसंगतता को तो देख ही रहे होंगे, क्योंकि जब भी आप किसी का अनुसरण व अनुकरण करने लगते हैं, तो आप खुद को पथभ्रष्ट कर रहे होते हैं, गुमराह कर रहे होते हैं।

तो ऐसा है आपके बाहर का संसार—युद्ध, भ्रष्ट नेता, भ्रष्ट सरकारें, लोगों में अलगाव पैदा करते धार्मिक संप्रदाय, एक दूसरे से लड़ते देश व संप्रदाय, और इस सब के बीच बहुत अधिक भ्रम-भ्रांति, खिन्नता और दुख। इस संसार में ऐसे गुरु, उस्ताद और उपदेशक भी हैं जो कहते हैं, 'हम जानते हैं, हम तुम्हें सत्य तक ले जायेंगे', 'हम तुम्हारा उद्धार करेंगे, तुम्हें दुख से मुक्ति दिलायेंगे'—लेकिन वे ऐसा कर नहीं सकते। वे तो अपना ही कोई विधि-विधान आप पर थोप रहे होते हैं। वे

आपको भारमुक्त नहीं करते बल्कि वे तो अपना भी भार आप पर लाद देते हैं। है न? मैं आशा करता हूँ कि आप यह सब देख लें ताकि आप इनमें से किसी के पास कभी न जाएं, इस वक्ता के पास भी! ताकि इस सब के बंधनों से खुद को मुक्त होकर आप देख सकें, अन्यथा तो आप देख ही नहीं पायेंगे, आप गंभीर नहीं हो पायेंगे बल्कि आप खेल कर रहे होंगे। यह तो बाज़ार में *विंडो-शॉपिंग* करने जैसा काम होगा—एक विंडो से दूसरी और फिर अगली विंडो की तरफ़ चलते जाना। आप में से अधिकतर लोग यही तो कर रहे हैं, और आपको लगता है कि एक विंडो से दूसरी विंडो और फिर उससे अगली विंडो की तरफ़ चलते जाते हुए आप बड़ा गंभीर काम कर रहे हैं। बल्कि, जितनी भी ये विंडो हैं इन सबको अगर आप दरकिनार कर दे तो फिर आपमें अकेले खड़े होने की कूवत आ जायेगी, खुद को देखने की क्षमता आ जायेगी। हम यही करने जा रहे हैं। और, गंभीर होने से मेरा तात्पर्य भी यही है।

तो, इस संसार को भली-भांति देख लेने के बाद यदि आप इसके तमाम विवरण-वर्णन को एक तरफ़ कर दें क्योंकि यह संसार तो विवरण का पिटारा है—दुख, व्यथा-वेदना, क्रूरता, हिंसा, आदमी को लकीर का फ़कीर बनाने की कोशिश करने वाले समुदाय, आर्थिक संघर्ष के साथ चलता रक्त-रंजित युद्ध, अपने छल-कपट और भ्रष्ट आचरण वाले ये राजनेता वगैरह, वगैरह—इस सब को अगर आप एक तरफ़ कर दें, तो आप खुद को देख पायेंगे। लेकिन, खुद को देख सकने के लिए गंभीरता की आवश्यकता पड़ती है, क्योंकि बाहरी तौर पर आप जिसे झुठला रहे हैं, भीतर से तो आप वही हैं। पता नहीं आपने यह देखा व महसूस किया है या नहीं। जो कुछ आपने बाहर बनाया है वह आपके भीतर का ही तो चित्रण है, क्योंकि हम बहुत हिंसक है, छली, कपटी, फ़रेबी, और दगाबाज़ हैं, हमारे पास तरह-तरह के मुखौटे हैं जिन्हें हम आवश्यकतानुसार पहनते रहते हैं, हम तरह-तरह के ढोंग व आडम्बर करने वाले हैं। और, इस सब के दौरान हम सुरक्षा की चाहत भी रखते हैं। तो, जैसे हम

हैं वैसा ही यह संसार हो गया हैं। है न? इस बात को देखिए तो सही—सिद्धांततः नहीं बल्कि यथार्थ की तरह देखिए। और, यह देखना-समझना आपको किसी ऐसे अवसाद में डालने वाला नहीं है कि जब तक बुनियादी तौर पर आप खुद को नहीं बदल लेते तब तक यह संसार नहीं बदल सकता। इसके विपरीत, यह देखना-समझना तो आपको बदलाव के लिए प्रचंड ऊर्जा देगा।

तो, मैं पूरी गंभीरता के साथ यह समझता हूँ कि यह संसार जैसा है वैसा ही हम हैं, हम ही यह संसार हैं। अगली समस्या है: यह मानव मन कैसे बदले? यह मानव मन जो कि हजारों वर्षों से बनाया जाता रहा है, यह मन जो कि शिक्षित व संस्कारित किया जाता रहा है, यह मन जो कि उस वातावरण के रूप व आकार में ढलता रहा है जिसमें कि यह रहता आ रहा है, उस संस्कृति द्वारा तराशा जाता रहा है जिसमें कि यह फलता-फूलता आया है। यह मन जैसा है वैसा बनने में इसने बहुत समय लिया है—कोई दस हजार साल या अधिक ही। यह मन अनुभवों, ज्ञान, छवियों और प्रतीकों से भरा पड़ा है। अतः हम जो प्रश्न कर रहे हैं वह है: मानव मन का रूपांतरण करने में पूर्व-ज्ञान का क्या स्थान है? आप मेरी बात समझ रहे हैं न? हमने भारी मात्रा में पूर्व-ज्ञान अर्जित कर लिया है, दोनों ही तरह का, तकनीकी—वह भी कितनी ही तरह का, कितने सारे विषयों का, विज्ञान, जीवविज्ञान, मानवविज्ञान, चिकित्सा विज्ञान, वगैरह, वगैरह। और, हमने मन के बारे में भी बहुत ज्ञान अर्जित किया है। तो हमारा प्रश्न है कि इस ज्ञान का स्थान क्या है—ज्ञान जो कि अतीत है? मानव मन के रूपांतरण से इसका क्या संबंध है, क्या लेना-देना? क्या यह प्रश्न स्पष्ट है?

मान लीजिए, मुझे अपने बारे में बड़ा ज्ञान है—कुछ बातें मैं क्यों सोचता हूँ, उस विशेष सोच-विचार से जुड़ी क्या-क्या बातें हैं, मैं प्रतिक्रिया क्यों करता हूँ, मेरे अनुभव, मेरी टेस, मेरी चिंताएं-व्यग्रताएं, मेरे डर क्या हैं, मेरे सुखभोग की लगातार तलाश क्या है और जीवन-मरण के मेरे भय क्या हैं? मैंने

अपने बारे में बेतहाशा ज्ञान एकत्र कर लिया है, मैं पचास बरस से इसे बड़े ध्यान से देखता आया हूँ, इसकी सारी सूक्ष्मताओं, धूर्तताओं, क्रूरताओं को देखता आया हूँ, जब मैं अपने बारे में बोल रहा होता हूँ तब दरअसल मैं आप ही के बारे में बोल रहा होता हूँ, इन बातों को मुझ पर रख कर न देखें, और न ही ऐसा मुझे मानते हुए खुद को भूल जाएं। मैं आप ही के बारे में बात कर रहा हूँ। मैंने देखा है, मैंने दर्जनों दार्शनिकों को सुना है, उपदेशकों, गुरुओं को सुना है, उन्होंने अपना ज्ञान, अपना अनुभव मुझे प्रदान किया है। तो, इन वर्षों के दौरान, वे चाहे दस रहे हों, पचास रहे हों, सौ या हज़ार रहे हों, ज्ञान का एक अंबार इकट्ठा हो गया है। लेकिन, फिर भी मैं एक औसत दर्जे का, रद्दी, कपटी और नासमझ ही हूँ। दुर्व्यवहार और चापलूसी के प्रति मैं तुरंत प्रतिक्रिया करता हूँ, मेरे दंभ और आत्माभिमान का तो जैसे कोई ओर-छोर ही नहीं है। मैं किसी ढर्रे में ढल भी जाता हूँ और ढर्रे के विरुद्ध जूझता भी हूँ। मैं कला के बारे में बतियाता हूँ और इधर-उधर थोड़ा बहुत कला को पढ़ाता भी हूँ, कोई वाद्य बजा लेता हूँ, छोटी-मोटी कोई किताब लिख लेता हूँ, प्रसिद्धि चाहते-चाहते मैं विख्यात या कुख्यात हो जाता हूँ—यही सब कुछ तो मैं हूँ। मैंने जानकारियों का, ज्ञान का ढेर इकट्ठा कर लिया है, लेकिन वह ज्ञान तो वही है जो बीत चुका है, अतीत है। सारा ज्ञान अतीत ही तो है, भावी ज्ञान और वर्तमान ज्ञान जैसी कोई चीज़ नहीं होती। देखिए, ध्यान दीजिए—ज्ञान केवल अतीत के रूप में ही होता है। और, ज्ञान काल है, समय है—आप समझ रहे हैं न? मान लीजिए कि मैं खुद से कहता हूँ, 'मैं यह जानता हूँ'। और, साथ ही, संसार का सावधान तथा अवैयक्तिक अवलोकन करते हुए मैं समझता हूँ कि मुझ में पूरा-पूरा बदलाव आ जाना चाहिए, एक इंसान रूप में, दूसरों के साथ अपने संबंधों में ही नहीं, घनिष्ठ संबंधों में ही नहीं, बल्कि उस इंसान के साथ भी जो कि मुझसे हज़ारों मील दूर रहता हो, अपने पड़ोसी के साथ, सभी इंसानों के साथ—मैं देखता हूँ कि उन संबंधों में एक संघर्ष

चल रहा है, एक द्रंद्र चल रहा है, दुख है, खुद को सही सिद्ध करना है, स्वार्थपरता है, आत्मकेंद्रित गति है। और, यह सब ही ज्ञान है।

तो, मानव का रूपांतरण होने में इसका क्या स्थान है? यह है प्रमुख प्रश्न। क्या भावी अनुभव से अधिक ज्ञान जुटाना, न केवल चांद पर जाने के लिए व ज्ञान के विभिन्न क्षेत्रों के लिए, बल्कि खुद के बारे में ज्ञान जुटाना, अधिक से अधिक से अधिक, समय लेना, क्या इससे बदलाव आ सकता है? यानी, क्या समय व ज्ञान—ज्ञान हालांकि समय ही होता है—क्या वह मुझमें, आप में, बदलाव ला सकता है? या, इसके लिए एक भिन्न प्रकार की ऊर्जा की आवश्यकता होती है? यही वह मुद्दा है जिस पर हम परिसंवाद करने जा रहे हैं। ठीक? क्या इसमें हम परस्पर बराबर शिरकत कर रहे हैं? क्योंकि, जैसा कि मैंने कहा, इस विषय पर हम साझा विचार-विमर्श कर रहे हैं। लेकिन साझा विचार-विमर्श करने के लिए दोनों में स्नेह और जिज्ञासा का होना आवश्यक है। अन्यथा आप साझा विचार-विमर्श नहीं कर सकते। जिस बात पर हम साझा विचार-विमर्श कर रहे हों, उसमें हम दोनों की रुचि होनी आवश्यक है। यानी, एक ही समय पर, एक ही स्तर पर, एक ही शिद्दत से साझा विचार-विमर्श करना—अन्यथा आप इसे कर ही नहीं पायेंगे।

तो, मेरी यह समस्या है, आपकी भी यह समस्या है: हमारे बारे में लोग जो बातें कहते हैं वे हमें खूब जानते हैं, और अपने बारे में हम खुद भी जानते हैं, लेकिन इससे क्या हममें बदलाव आ सकता है या क्या यह ज्ञान हममें बदलाव ला सकता है? यानी, क्या विचार हममें बदलाव ला सकता है? विचार दरअसल इस ज्ञान की ही तो उपज होता है। विचार ने ही इस संसार को बनाया है। विचार ने ही लोगों को बांट रखा है—ईसाई, गैर ईसाई, अरब, यहूदी, कैथलिक, गैर कैथलिक, कम्युनिस्ट, हिंदू—बंटे हुए लोग, विचार ने ही यह बंटवारा कर रखा है। क्या आप यह बात जानते-समझते हैं? विचार ने ही इस संसार

को बांटा हुआ है देशों के रूप में—स्विट्ज़रलैंड, फ्रांस, जर्मनी, रूस, वगैरह, वगैरह। विचार ने ही एक दूसरे के बीच कलह-क्लेश, लड़ाई-झगड़े पैदा कर रखे हैं, न केवल धार्मिक, सामाजिक व आर्थिक क्षेत्र में बल्कि हमारे संबंधों में भी लड़ाई-झगड़े हैं। और, उसी विचार से हम उम्मीद कर रहे हैं कि वह हममें बदलाव लाएगा। यही तो हम कर रहे हैं, है न? भले ही इस बात के प्रति हम सजग न रहते हों लेकिन हम ऐसा ही करने की कोशिश में लगे रहते हैं। क्या यह बात साफ़ हो गई है, मेरी बात नहीं बल्कि यह बात? विचार, ज्ञान और काल—ये तीनों एक ही चीज़ हैं—तो, काल, ज्ञान और विचार ने ही, बाहरी तौर पर ही नहीं बल्कि भीतरी तौर पर भी, भ्रम-भ्रान्ति, कष्ट-क्लेश, भ्रष्टाचार, दुख, दर्द से भरे इस संसार को पैदा किया है। और, हम कहते यह हैं कि यह सब बदलना चाहिए, गंभीर लोग तक भी ऐसा ही कहते हैं, लेकिन कोई भी बदलाव लाने के लिए वे विचार का ही प्रयोग करते हैं। आप समझे? तो मैं इस पूरी बात पर सवाल उठा रहा हूँ। मैं साफ़ तौर पर देख रहा हूँ कि ज्ञान, ये पहले से ही भरी हुई बातें, बदलाव नहीं ला सकते। यह ज्ञान एक दूसरे से लड़ती-झगड़ती हम दो हस्तियों के कार्य-कलापों में और हमारे अहं—केंद्रित चाल-चलन में कोई बदलाव नहीं ला सकता। तब मुझे क्या करना होगा? अपने आप से यह प्रश्न पूछिए। आप का उत्तर क्या आता है? आप इस संसार को देखें और खुद को इस संसार की तरह देखें, आप पायेंगे कि कुछ चीजों का, कुछ बातों का ज्ञान होना, जानकारी होना तो आवश्यक है, तब अपने आप से पूछें कि जो ज्ञान इंसान हजारों वर्षों से खुद के बारे में समय के, काल के रूप में एकत्र करता आया है, क्या वह ज्ञान, वह काल और विचार, एक आमूल मनोवैज्ञानिक बदलाव ला सकता है? अभी विचार को ही लीजिए, इसे देखिए। देखिए कि आप इस कथन को किस तरह सुनते हैं? किस तरह आप इस कथन को सुनते हैं: मानव के बदलाव में यह ज्ञान क्या स्थान रखता है? इसे आप किस तरह सुनते हैं? जब आप ये शब्द सुनते हैं तब क्या आप इसे किसी निष्कर्ष में

बदल देते हैं? निष्कर्ष से मेरा क्या अर्थ है, क्या आप समझ रहे हैं?—इस कथन को सुन कर किसी नतीजे, निचोड़ या सिद्धांत पर पहुंच जाना, जो कि एक कल्पना ही होगा, तब भले ही आप इस कथन को सुन रहे हों लेकिन दरअसल आप अपने उस निष्कर्ष को ही सुन रहे होते हैं। आप समझ रहे हैं न? क्या हमारा परस्परालाप हो रहा है? नहीं, मुझे नहीं लगता।

मैंने एक बात कही है: समय या काल, जो कि ज्ञान और विचार ही है, वह मानव मन के, इंसान के रूपांतरण करने में क्या स्थान रखता है? क्योंकि रूपांतरण तो होना ही चाहिए। तो आप इसे किस तरह सुनते हैं? क्या आप इसे केवल शब्दार्थ के रूप में सुनते हैं? या आप इसे सुनते हैं और उस सुनने में ही आप कोई निष्कर्ष निकाल लेते हैं, और फिर आप उस निष्कर्ष के साथ इस कथन को सुन रहे होते हैं न कि इसे वस्तुतः सुन रहे होते हैं? आप समझे? क्या आपने अंतर देखा? जब आप किसी कथन को, इस कथन को सुन रहे हैं, और कोई निष्कर्ष, नतीजा या सिद्धांत निकाल लेते हैं तब विचार हरकत में आ जाता है। आप समझे? सर, मैं कोई चतुराई नहीं कर रहा हूँ, यह कोई बौद्धिक मामला नहीं है, लेकिन इसे आप अपने आप में देख सकते हैं।

क्या आप बिना किसी शब्द के, बिना किसी छवि के, बिना किसी प्रतीक के सोच सकते हैं? मैं यह प्रश्न आपसे पूछ रहा हूँ, कृपया ध्यान से सुनियेगा: क्या आप बिना किसी शब्द के, बिना किसी प्रतीक के, बिना किसी छवि के सोच सकते हैं? जब कोई छवि न हो, कोई प्रतीक न हो, कोई शब्द न हो, तब क्या कोई विचारणा, कुछ सोचना हो सकता है? जब इस तरह सुनते हैं, तब सुनने के साथ-साथ क्या करते हैं? उसे सुनने के बाद आप क्या करते हैं? सोचिए। आप पता लगाने की कोशिश कर रहे हैं, है न? क्या बिना किसी शब्द के विचारणा, सोचना हो सकता है? और फिर आप कहते हैं, 'हे भगवान, बिना शब्द के तो मैं सोच ही नहीं सकता, सोचने के लिए मेरे पास कोई छवि, कोई प्रतीक तो होना ही चाहिए, अन्यथा कुछ सोचना कैसे हो सकता

है?’ तो, विचार करना, शब्द, प्रतीक, छवि को सोचना ही ज्ञान है, और यही समय या काल है। परंतु, क्या यह समय या काल मानव मन को बदल सकता है? लेकिन, सारे दर्शन, पूरा धार्मिक ढांचा तो विचार पर, यानी ज्ञान पर ही आधारित है, और बदलाव लाने के लिए हम उसी ज्ञान का मुंह ताक रहे हैं। पर, मैं कहता हूँ कि यह संभव नहीं है, यह असंभव है। लेकिन इस बात को मुझे बिल्कुल साफ़-साफ़ देखना होगा, देखने से मेरा अभिप्राय है इस कथन के सत्य के प्रति संवेदनशील होना। सत्य से मेरा तात्पर्य है कि ज्ञान इस संसार के कुछ कामों के लिए तो आवश्यक होता है—जैसे कि कार चलाना सीखने के लिए, भाषा सीखने के लिए, विज्ञान के क्षेत्र के लिए, इत्यादि, इत्यादि—लेकिन इंसान में बदलाव लाने के मामले में ज्ञान को एक साधन के रूप में अपनाने का कोई भी महत्व नहीं है। क्या आप इस बात के सत्य को देख रहे हैं? लेकिन आप सत्य को तभी देख सकते हैं जब आप इससे कोई निष्कर्ष न निकाल रहे हों, किसी नतीजे पर न पहुंच रहे हों। आप कहेंगे, ‘तब मैं क्या करूँ?’ यह भी निष्कर्ष ही है। ‘तो मैं कैसे काम करूँगा, मेरा तो सारा जीवन ही निष्कर्षों, विश्वासों, धारणाओं और विचारों पर बीता है, और आप आकर मुझसे कह रहे हैं, ‘देखो, संबंधों में, मानव में बदलाव लाने में इनका कोई स्थान नहीं है, कोई मूल्य-महत्व नहीं है’। फिर आप पूछते हैं, ‘तो स्थान व महत्व किसका है?’ यह प्रश्न भी विचार द्वारा ही रखा जा रहा है। अतः आप अब भी विचार के दायरे में रहते हुए ही काम कर रहे हैं, और इसीलिए इस बात के सत्य को देख नहीं पा रहे हैं।

देखिए, ज्ञान का क्या स्थान है, यह पूरा प्रश्न बहुत ही कठिन, जटिल, पेचीदा, बारीक है, सूक्ष्म है क्योंकि ज्ञान होने का आप केवल एक पहलू देख रहे हैं। यहां से वहां जाने के लिए जहां कि मैं रहता हूँ मुझे रास्ते का ज्ञान होना चाहिए, कार चलाने के लिए, यह भाषा बोलने के लिए, आपको पहचानने के लिए, गोल्फ़ या टेनिस खेलने के लिए, फ़ैक्ट्री जाने के लिए, कोई

भी काम करने के लिए मेरे पास ज्ञान तो होना ही चाहिए। लेकिन, फिर भी मैं देख रहा हूँ कि इंसान में बदलाव लाने में ज्ञान का कोई स्थान नहीं है। या है? परंतु, इसके लिए बहुत व्यापक और त्वरित गति से देखने वाला होने की आवश्यकता है, किसी निष्कर्ष पर पहुंचने की नहीं। यह नहीं कि मैं किसी निष्कर्ष पर पहुंच जाऊँ और कह दूँ, 'हां, ज्ञान स्थान रखता है' या 'नहीं, यह कोई स्थान नहीं रखता'—इस सब के कोई मायने नहीं हैं। लेकिन, ज्ञान के पूरे घेरे को देखने के लिए, और पूरे घेरे को देखने के साथ-साथ यह देखने के लिए कि ज्ञान कहां आवश्यक है, कि ज्ञान कहां विनाशक है, बहुत प्रज्ञा की, अत्यधिक समझ की ज़रूरत है। लेकिन, प्रज्ञा क्या समय से उपजी हुई कोई चीज़ होती है? इसे ध्यान से सुनिए। प्रज्ञा क्या व्यक्तिगत होती है, आपकी प्रज्ञा या मेरी प्रज्ञा? या ज्ञान के पूरे चलन को, उसकी पूरी गतिविधि को देखना-समझना ही प्रज्ञा होता है? लेकिन ऐसा देखने के लिए आपको अत्यधिक संवेदनशील, सचेत होने की आवश्यकता होती है; आपमें खयाल, अवधान, स्नेह, प्रेम का होना आवश्यक है, अन्यथा आप प्रज्ञा का लावण्य नहीं देख पायेंगे, उसकी त्वरितता नहीं देख पायेंगे।

- सानेन, प्रथम सार्वजनिक वार्ता, जुलाई 1973
अनुवाद : अचलेश शर्मा



समूचे जीवन की पड़ताल जकरी

मैं आपको याद दिलाना चाहता हूँ, और यह बात मैं आपको दिलाता रहूँगा कि कृपया ध्यान रखिए कि एक व्यक्ति के रूप में यह वक्ता कोई *अथॉरिटी* नहीं है। जो यहां कहा जा रहा है वह उसका कोई व्यक्तिगत पंथ नहीं है, या उसके द्वारा प्रतिपादित कोई पद्धति नहीं है, और न ही कोई ऐसा कुछ है जिससे आप सहमत या असहमत हो जाएं। क्योंकि, इस पर हमें अपना दिमाग, तर्क, औचित्य, होशोहवास वाली सोच-समझ लगानी होगी। यह कह देना भर नहीं होगा कि 'चूंकि मैं आपको पसंद करता हूँ इसलिए मैं आपकी बात से सहमत हूँ' या यह कि 'मैं आपको जानता तक नहीं इसलिए मैं आपकी बात को कैसे सही मान लूँ', बल्कि, दरअसल हम इस मुद्दे पर साथ मिल बैठ कर विचार-विमर्श करने जा रहे हैं। सहमत या असहमत नहीं होना है बल्कि साथ-साथ अवलोकन करना है जीवन की समूची अद्भुतता का, अपने दैनिक जीवन का, अपने रहन-सहन, रंग-ढंग का, अपने विचारों व भावनाओं व प्रतिक्रियाओं का।

हमें अपने जीने के पूरे तौर-तरीके

की गहराई से पूछताछ व जांच-परख करनी है वस्तुनिष्ठ रूप से भी, यानी बाहरी संसार में क्या हो रहा है, और व्यक्तिनिष्ठ रूप से भी, यानी हमारे भीतर क्या चल रहा है। यानी मनोवैज्ञानिक तौर पर, या अगर आपको यह व्यक्तिनिष्ठ अथवा मनोवैज्ञानिक दशा शब्द अच्छा नहीं लगता है तो इसे अपनी त्वचा के अंदर की दशा की तरह लें, लेकिन इसका अर्थ हाड़-मांस या नस-नाड़ी वगैरह न लें बल्कि वह जो कि अभी तक पूरी तरह अनखोजा है, अज्ञात है, हम में से हर एक के लिए वह अनखोजा व अज्ञात है, हालांकि विशेषज्ञों ने इसकी थोड़ी सतही तौर पर खोजबीन अवश्य की है। लेकिन मिलजुल कर, और इस 'मिलजुल' से इस वक्ता का मतलब है वाकई मिलजुल कर, न कि यह कि वह कुछ कहेगा, कुछ बातें आपके सामने रख देगा, और बस। नहीं, ऐसा नहीं है बल्कि हम मिलजुल कर, साथ-साथ अपने जीवन की इस घटनावली को देखने-समझने जा रहे हैं: द्वंद्व, टकराव, कलह, समस्याएं ही समस्याएं, संबंधों की समस्याएं, ये समस्याएं कि इंसान को ठेस क्यों लगती है, उसके मन को चोट क्यों लगती है। लेकिन इसके साथ ही हम भय की, डर की पूरी समस्या पर भी बात करेंगे: क्या कभी यह संभव है कि भय से मुक्त हुआ जा सके, न केवल बाहरी तौर से, वस्तुनिष्ठ रूप से, बल्कि व्यक्तिनिष्ठ रूप से भी, भीतरी तौर से भी, हम भय से पूरी तरह मुक्त हो सकें। इसके अलावा हम सुखभोग के बारे में भी बात करेंगे, इंसान जिसके पीछे तरह-तरह के तरीकों से भागता रहता है। और, दुख के भारी बोझ बारे में भी, न केवल अपने दुख के बारे में बल्कि मानवजाति के दुख के बारे में।

तो, हमारी फ़िक्र, हमारा सरोकार समूचे जीवन से है, उसके किसी एक पहलू से नहीं, न ही उसके किसी एक रूप से है, बल्कि इस धरती पर अपने समूचे अस्तित्व से। और, हम मिलजुल कर इस पर भी बात करेंगे कि सौंदर्य क्या होता है। अगर सौंदर्य नहीं होगा तो सत्य भी नहीं रहेगा। सौंदर्य केवल बाहरी नहीं, केवल परिवेशीय नहीं, बल्कि यह कि सौंदर्य बोध

सचमुच क्या होता है। इसलिए, हम मिलजुल कर, किसी तरह के बहकावे या लोभ, कुछ पाने या कुछ खोने वाली बात के बिना, साथ-साथ, मिलजुल कर अवलोकन करें, अपने भीतर एक लंबी यात्रा पर चलें—वस्तुनिष्ठ रूप से इस संसार की भी और व्यक्तिनिष्ठ रूप से अपने भीतर की भी, एक लंबी यात्रा पर चलें। लेकिन यह यात्रा हमें बहुत सावधानीपूर्वक, संभल कर, और बारीकी से करनी होगी, यानी जो हम देखें-सुनें उसे कभी भी यथावत स्वीकार न करें—न तो स्वयं के किसी अनुभव को, न ही किसी और के अनुभव को और न ही किसी दार्शनिक, सैद्धांतिक या वैचारिक अवधारणा को, बल्कि इस यात्रा के दौरान जो कुछ भी हम देखें-सुनें उसमें शंका व संशय करने का, सवाल करने का हमारा मिज़ाज रहे। यदि हम सब इसके लिए तैयार हैं, हम में से हर कोई तैयार है, तो हम खुद यह देख सकेंगे कि यह यात्रा कितनी महत्वपूर्ण है, कि यह यात्रा कितनी गहन-गंभीर है, कि यह यात्रा कोई ऐसी यात्रा नहीं है जैसी कि हम किसी सप्ताहांत में किया करते हैं, बल्कि यह एक लंबी छुट्टियों वाली यात्रा है। आज सुबह इस फुरसत में कोई घंटे-दो-घंटे लेकर हम अपनी सारी ऊर्जा लगा दें और इन समस्याओं पर विचार-विमर्श करें।

इसका अर्थ यह है कि कुछ समय के लिए हम अपने खुद के पूर्वाग्रहों को, तरफदारियों को, दुराग्रहों को व हल्की-फुल्की मान्यताओं को एक तरफ रख दें, ताकि जब यथार्थ के दर्शन हों तब ये उसे तोड़-मरोड़ न दें, उसमें अवरोध न बनें, उसे रोक न दें। क्या हम इस यात्रा पर आगे बढ़ें? बहुत मशक्कत करते हुए नहीं, बल्कि हौले-हौले, संकोच के साथ, जांचते-परखते हुए, किसी का अनुकरण या अनुसरण न करते हुए। इस यात्रा में न कोई गुरु है और न ही ऐसा कोई तमाशा। इस तथाकथित मनोवैज्ञानिक, व्यक्तिनिष्ठ मामले में, कोई *अथॉरिटी* नहीं है, न ही अपने अनुभव की और न ही अपने ज्ञान की—क्योंकि ज्ञान कोई भी हो वह सीमित ही होता है—और इसमें न ही हम किसी अवधारणा का पालन करेंगे। ये सब चीजें स्वभावतः स्पष्ट

दर्शन में अवरोध पैदा करती हैं। क्या ऐसा करना संभव है—अपने खुद के उन निष्कर्षों से, उन अवधारणाओं व छवियों से जिन्हें कि हमने खुद ही अपना मार्गदर्शक बना लिया है, उनसे मुक्त होना क्या संभव है, या उन आदर्शों से मुक्त होना संभव है जो कि विचार ने विरोधस्वरूप अथवा वर्तमान से आंखें मूंद लेने के लिए खड़े कर लिए हैं, क्या यह सब संभव है ताकि दिमाग़ एकदम साफ़ व सक्रिय हो सके, ताकि हम अवलोकन कर सकें, चिंतन कर सकें और अपने बाहरी व भीतरी संसार की यह खोज यात्रा कर सकें।

इन सभी वार्ताओं का तथा प्रश्नोत्तरों का यही सरोकार है। इस मामले में कोई अथॉरिटी यहां नहीं है। हम में से हर कोई अपने किए के लिए, अपने विचारों के लिए, जिस तरह से वह रहता है उसके लिए वह स्वयं ही ज़िम्मेदार है। लेकिन अगर हम दोष किसी और के मत्थे मढ़ना ही चाहते हैं—जैसे परिवेश पर या समाज पर—तो भी यह समाज वैसा ही तो है जैसा कि हम ने इसे बनाया है। हमारा सामाजिक ढांचा वैसा ही तो है जैसा कि हम मानव सदियों से इसे बनाते आए हैं—अपनी ऐश्वर्याकांक्षा और हवस द्वारा, अपनी स्पर्धा व आक्रामकता द्वारा, अपने भय, अपने सुखभोग इत्यादि द्वारा। इसलिए, जिस समाज में हम रह रहे हैं, जो कि भ्रष्ट है, जो कि युद्ध के लिए कमर कसे हुए है, वह तो परिणाम मात्र है इस बात का कि हम किस तरह रहते हैं, किस तरह सोचते व क्या महसूस करते हैं, इत्यादि, इत्यादि।

अगर इन बातों पर गौर करें तो क्या हम अपना जीवन व्यर्थ गवां रहे हैं? दंड और टकराव ही वह व्यर्थता है। वह दंड, वह टकराव जिसमें निरंतर रहते हुए हम अपना सारा जीवन बिता देते हैं। यह एक तथ्य है। लेकिन यह मानव अपनी समस्या को कभी सुलझा नहीं पाया है। यह एक बहुत जटिल मामला है कि संसार भर के इंसान, जिनमें यहां बैठे हुए हम लोग भी शामिल हैं, क्या हर प्रकार के दंड से कभी मुक्त हो पायेंगे? या

क्या यह मानव का यह जन्मजात स्वभाव ही है, ऐतिहासिक रूप से भी और वास्तविक रूप से भी, कि हम न केवल आंतरिक द्वंद्व में जिएं बल्कि बाहरी तौर पर भी अविराम युद्ध करते रहें, एक दूसरे को मारते रहें। पुराने ज़माने में शायद पांच-छः हज़ार लोग युद्ध में मारे जाते हों, लेकिन आज तो एक ही बम से आप लाखों लोगों को भस्मीभूत कर सकते हैं। और, इसे प्रगति कहा जाता है। फिर भी, संसार का हर देश हथियारों का भंडार बढ़ाने में लगा हुआ है, और उनमें से अस्सी प्रतिशत तो इसी देश से निर्यात किए जा रहे हैं।

हमने इसी को जीवन का स्वाभाविक तरीका मान लिया है: परस्पर लड़ना, कलह करना, कत्ल करना, अंग-भंग करना, आतंकवाद तथा वह सब कुछ जो कि इस संसार में हो रहा है। और, लगता है कि हम इसे बुरा भी मान रहे हैं। हम कह देते हैं हर चीज़ संघर्ष में है, प्रकृति भी। प्रकृति में भी संघर्ष है, द्वंद्व है, लड़ाई है, हत्या है—जैसे शेर हिरन को मार देता है। इसलिए इंसान के लिए भी यह स्वाभाविक है कि वे एक दूसरे को मार डालें—अपने धर्म की खातिर—तथाकथित धर्म की खातिर—हालांकि जिन धर्मग्रंथों में हम विश्वास रखते हैं उनमें कहा गया है कि शांतिपूर्वक रहो, परस्पर प्रेम करो, और ये बातें हज़ारों साल पहले से कही जाती रही हैं, ऐसा केवल ईसाईयत में ही नहीं कहा गया है, लेकिन फिर भी ईसाईयत ने जितने लोगों को मौत के घाट उतारा है उतना किसी अन्य धार्मिक समुदाय ने नहीं।

इस तरह, हमने द्वंद्व को, लड़ाई को स्वाभाविक व अपरिहार्य मान लिया है—हर किसी के बीच द्वंद्व है, लड़ाई है, स्त्री, पुरुष, सबके बीच। लेकिन मैं पूछता हूँ कि गत पचास हज़ार वर्षों के मानव विकास से होते हुए आज जब हम तथाकथित परिष्कृत, सभ्य, सुसंस्कृत इंसान होने के चरम पर आ पहुंचे हैं—तब इस तरह हमारा द्वंद्व में, परस्पर लड़ाई में जीना क्या स्वाभाविक है, अपरिहार्य है?

इस विषय में क्या हम साथ-साथ आगे बढ़ें? और यह देखें कि इसे केवल शाब्दिक रूप से या बौद्धिक रूप से नहीं बल्कि क्या हम इसे सचमुच गहराई तक समझ पा रहे हैं, तथ्य को देख पा रहे हैं, इस तथ्य को कि इंसान द्वंद्व में जी रहा है। और, क्या इस द्वंद्व का अंत होना संभव है? द्वंद्व क्या होता है? आदर्श क्या द्वंद्व पैदा करते हैं? भविष्य का और आज का हर रूप क्या हमारे द्वंद्व के लिए जिम्मेदार है? भविष्य को तो इंसान जानता नहीं है और वर्तमान भूत ही है, अतीत है। अतीत हमेशा ही वर्तमान तथा भविष्य के साथ द्वंद्वमय रहता है। आशा है कि आप मेरी बात समझ रहे होंगे। द्वंद्व क्या पसंद व नापसंद, अच्छे व बुरे, जो है व जो होना चाहिए के बीच द्वैत भावना है? क्या द्वंद्व इन्हीं कारकों के कारण पैदा होता है? अगर कोई पूरी तरह गंभीर है और इस बात से अवगत है कि वह द्वंद्व में जी रहा है तो उसके लिए यह एक बात स्पष्ट तथ्य बन जाती है। बचपन से ही, और इस छोटी सी जिंदगी के दौरान भी द्वंद्व हमारे जीवन का प्रमुख तत्वों में से एक बना रहता है। जब तक कि कोई इस द्वंद्व के कारण को स्वयं ही नहीं खोज निकालता, तब तक द्वंद्व को केवल बाहरी रूप में कुछ कतरब्योत कर देने से कुछ हासिल नहीं हो सकता। द्वंद्व का कारण क्या होता है? जब कभी भी कोई कारण हो और उसका प्रभाव हो, तब अगर उस कारण को शाब्दिक, सैद्धांतिक या बौद्धिक रूप से नहीं बल्कि वस्तुतः गहराई तक समझ लिया जाए, बल्कि उसे जीवन की एक सच्चाई के रूप में समझ लिया जाए, गंभीरता से समझ लिया जाए, तब उस कारण का ही निवारण हो जाता है। और इस तरह द्वंद्व का भी निवारण किया जा सकता है।

हम मिलजुल कर यह खोज रहे हैं कि द्वंद्व का कारण क्या है। इसका कारण, इसकी जड़ क्या है। लेकिन अगर आप यह मान लेते हैं कि द्वंद्व तो अपरिहार्य है, इससे बचा ही नहीं जा सकता, यह तो स्वाभाविक है, जन्मजात है, क्योंकि विगत हज़ारों वर्षों से इंसान द्वंद्व में ही रहता आया है, तो फिर हम भी ऐसे ही क्यों न जीते रहें?—इस तरह का तर्क, मैं ससंकोच कहना

चाहता हूँ कि इस तरह का तर्क मूर्खतापूर्ण है, अनुचित है, बेमानी है। लेकिन अगर हम इस बात को देखें, इसे समझें, परखें, गौर करें अवलोकन करें, द्वंद्व के कारण के भीतर झांक कर देखें, तो शायद उसका खात्मा हो जायेगा। कारण को खोजना कोई विश्लेषण करने वाली प्रक्रिया नहीं है। विश्लेषण में विश्लेषक भी चाहिए और विश्लेषित भी, है न? जो कहता है, 'मुझे द्वंद्व का कारण खोजना चाहिए' वह उसकी तलाश व तहकीकात इस तरह शुरू करता है जैसे कि वह द्वंद्व कोई बाहर स्थित चीज़ है और तलाश कर लेने के बाद वह उसका विश्लेषण करेगा। लेकिन, क्या विश्लेषक ही वह चीज़ नहीं है जिसका विश्लेषण किया जाना है? अच्छा हो अगर आप इस बात को थोड़ा और गहराई से समझें।

मेरा प्रश्न है: क्या विश्लेषक उस चीज़ से भिन्न है जिसका कि वह विश्लेषण कर रहा है? यह विश्लेषक कौन है? पेशेवर मनोवैज्ञानिकों, मनोरोगचिकित्सकों वगैरह को छोड़ दें, हम इस समय जो कर रहे हैं वह है द्वंद्व के कारण को समझना। यह द्वंद्व, यह कारण क्या वह चीज़ है जिसका विश्लेषण किया जाए? अगर आप कारण का विश्लेषण कर रहे हैं, तो फिर विश्लेषक कौन है? क्या यह विश्लेषक उस चीज़ से भिन्न है जिसका कि वह विश्लेषण कर रहा है? आप मेरा प्रश्न समझ रहे हैं न?

श्रोता: जी हां।

कृ: देखिए, यह एक गंभीर विषय है। यह कोई घंटे-दो-घंटे वाली बात नहीं है, यह आपके पूरे जीवन की बात है। यह आपकी जीवन शैली का विषय है, प्रेम, सौम्यता, फ़िक्र-परवाह, स्नेह, अनुराग का पूरा मामला है, ये सब इसमें शामिल हैं। यह केवल इतनी सी बात नहीं है कि आप वक्ता की हां में हां मिला दें, इसके कोई मायने नहीं होंगे। अगर आप इस विषय में सचमुच और गहरी रुचि व दिलचस्पी रखते हैं तो वक्ता द्वारा नहीं बल्कि खुद ही यह खोज कीजिए कि द्वंद्व का कारण क्या है। और जब आप यह खोज लेंगे कि कारण क्या है तो उस

कारण का प्रभाव तिरोहित हो जायेगा, क्योंकि सभी, या कहें कि किसी भी कारण को बदला जा सकता है। यदि किसी के सिर में या दांत में दर्द है तो उसका कोई कारण तो होगा ही। और जब आप किसी रोग का कारण जान जाते हैं तो उस रोग का निवारण हो जाता है। इसी प्रकार, अगर हम कारण खोज लें, या इस बात का कारण खोज लें कि हम अविराम द्वंद्व में क्यों रहते हैं, और उसमें गहरे उतरें तो यह कोई विश्लेषण नहीं होगा क्योंकि विश्लेषण में तो विश्लेषक तथा विश्लेषित के बीच पृथक्ता होती है। और इसीलिए, विश्लेषण की उस प्रक्रिया में भी द्वंद्व रहता है। लेकिन, अगर हमें इस तथ्य का अवलोकन करना है या कारण के तथ्य को खोज निकालना है, तो इसके लिए अवधान की, गौर करने की, खोज करने की, गहरी तड़प की, इस द्वंद्व से बाहर निकलने की तीव्र ललक की, ऊर्जा की आवश्यकता होगी। जब कि विश्लेषण तो ऊर्जा को व्यर्थ गंवाने का रास्ता है।

तो, द्वंद्व के कारण में गहरे तक झांकना, उसका स्पष्ट अवलोकन करना, उसका बोध करना, क्या यह संभव है? अगर हम कारण का पता लगा सके तो उसका प्रभाव, यानी द्वंद्व, भी तिरोहित हो जायेगा।

हम पूछ रहे हैं कि विचार का कारण क्या है? विचार का स्वयं में कारण क्या है? यह वक्ता इन बातों को आपके सामने रख रहा है, इनसे सहमत या असहमत न हों, हम तो इन बातों की जांच-परख कर रहे हैं। क्या द्वैत और दुराव का यह भाव, मैं जो हूं और जो मुझे होना चाहिए उसमें विभाजन व अलगाव पैदा करने वाला यह भाव ही विचार का कारण है? 'जो होना चाहिए' तो विचार का ही मंसूबा होता है। यानी, कोई जिस तरह जी रहा है उसे वह पसंद नहीं करता है, या उसमें उसे कष्ट है, इसलिए वह जीने के एक बेहतर ढंग की अवधारणा, एक आदर्श बना लेता है, और फिर खुद को उस अवधारणा के अनुरूप बनाने लगता है, और इस तरह से शुरू होता है

द्वंद्व, द्वैत—वास्तविकता और आदर्श के बीच। क्या यह द्वंद्व का कारण—एक कारण है? यानी जो है को दरअसल हम कभी देखते ही नहीं है। वास्तविकता से हमेशा ही दूर भागते रहते हैं, उससे पलायन करते रहते हैं, वास्तविकता को, अपने जीवन को, इसकी विलक्षणताओं को तुच्छ व हेय समझते रहते हैं।

किसी भी तरह के पूर्वाग्रह के बिना देखना, कोई राय बनाए बिना देखना, अपनी संस्कृति व संस्कारों की पृष्ठभूमि के बिना देखना—क्या यह संभव है? या ऐसी दृष्टि कुछ ही लोगों को, चुनिंदा लोगों को ही दी गई है, और इसलिए यह कोई ऐसी चीज़ नहीं है कि जिससे हर कोई मुक्त हो सके? इन सवालों को आप समझ रहे हैं न?

क्या द्वंद्व के कारणों में से एक कारण समय है, काल है? यानी, भविष्य, वर्तमान और भूतकाल। भूतकाल या अतीत, यानी हमारे सारे अनुभव, तजुर्बे, ज्ञान, परिपाटी, परंपरा, वे तमाम बातें जो हमने सीख ली हैं जो हमारा ज्ञान बन गई हैं, हमारी वह पूरी पृष्ठभूमि जो कि हमारा अतीत है, परिपाटी व परंपरा है, जो उस आज में सक्रिय है जो कि वर्तमान है, और भविष्य भी वही होगा जो हम आज हैं। आने वाले कल में मैं वही तो होऊंगा जो मैं आज हूँ—केवल कोर-कगार पर शायद कुछ-कुछ बदला हुआ, लेकिन कल में वैसा ही होऊंगा जैसा कि मैं आज हूँ। हां, अगर मुझमें आमूलचूल परिवर्तन आ जाए, तब मेरा आने वाला कल पूरी तरह भिन्न होगा। यानी, सारे काल आज में ही समाहित हैं—भूत, वर्तमान और भविष्य—ये सब अब में ही हैं। इस तरह भविष्य भी अब है। और, क्या विचार द्वंद्व के कारणों में से एक है? हम इस बात की पड़ताल कर रहे हैं, इसमें झांकने का प्रयास कर रहे हैं, हम कोई नियम-कायदा नहीं सिखा रहे हैं। हम पूछ रहे हैं, जानना चाह रहे हैं कि क्या विचार, सोचने की यह पूरी प्रक्रिया, क्या यह द्वंद्व के आधारभूत कारणों में से एक है—द्वंद्व जो कि अंततोगत्वा युद्ध में बदल जाता है? इसकी हमें पड़ताल करनी होगी जैसे कि हमने समय की की है। समय अतीत है,

वर्तमान है, भविष्य है। यह एक जुड़ी हुई श्रृंखला की गति है। और इसलिए यही समय अतीत है, वर्तमान है, और भविष्य भी है। लेकिन यह सारा समय वर्तमान में समाहित है। क्या यह समय द्वंद का एक कारण है?

साथ ही, हम यह भी पूछ रहे हैं, यह जानना चाह रहे हैं: क्या विचार, सोचने की यह पूरी प्रक्रिया—चाहे वह वस्तुनिष्ठ हो या व्यक्तिनिष्ठ हो—क्या यह भी द्वंद के कारणों में से एक है? लेकिन इसमें जाने से पहले हम यह पूछ रहे हैं: सोचना, विचारना क्या होता है? हम सोचने-विचारने में अपने रात, दिन और वर्ष बिता देते हैं। जो कुछ भी हम करते हैं वह सब हमारी विचारणा पर ही तो निर्भर होता है। हमारे परस्पर संबंधों में यह विचारणा बड़ी भूमिका निभाती है। विचारणा दरअसल मान्यता, स्मृति व ज्ञान का भाग है। वस्तुनिष्ठता में तो विचारणा ने कमाल किया है, उसने आधुनिकतम बम, परमाणु बम से लेकर अनोखे बर्तन बनाने से लेकर बड़े-बड़े युद्धपोत बनाने, पनडुब्बियां व कंप्यूटर बनाने तक का काम किया है। और इस विचारणा ने ही मानव को कमाल की दवाएं और सर्जरी जैसी चीजें दी हैं।

इसलिए, हमें विवेचना करनी होगी कि विचारना क्या होता है। जब यह प्रश्न पूछा जा रहा है कि विचारना क्या होता है—तब क्या आप विचार कर रहे हैं या कि इस प्रश्न को सुन रहे हैं कि विचारना क्या होता है, और विचारणा का अवलोकन कर रहे हैं? नहीं, मेहरबानी करके मत सोचिए। कोई आप से पूछ रहा है कि सोचना, विचारना क्या होता है? क्या आप तुरंत जान जाते हैं कि विचारना क्या होता है, या जिज्ञासा के साथ खोजबीन करते हैं, तलाश करते हैं, या आप प्रश्न को सुनते हैं? सुनना, अर्थात् जब आप सुन रहे हों तब आपमें शांति का भाव, शांत स्वभाव होना चाहिए।

तो, सवाल यह है कि विचारना क्या होता है? आपने यह सवाल खुद से शायद कभी नहीं पूछा हो, या प्रफेशनल लोगों

ने इस पर कभी कुछ न लिखा हो। शायद आप प्रफेशनल लोगों से ही यह सुनने के आदी हों कि विचारना क्या होता है और तब आप उसी बात को दोहरा देते हों। लेकिन वह बेकार की बात होगी—वह तो आपकी इस खोज को रोक ही देगी कि विचारना क्या होता है, क्योंकि तब आप किसी और की बात को दोहरा रहे होंगे, लेकिन वह विचारना नहीं होगा। विचारना होता क्या है? विचार का मूल स्रोत क्या है? यह विचार ही आदमी को चंद्रमा तक ले गया है, इस विचार ने ही संसार को देशों में बांट दिया है, इस विचार ने ही लड़ाइयां कराई हैं—आपके और आपकी पत्नी या पति के बीच, लड़के-लड़की के बीच। विचार की इतनी प्रबल शक्ति क्या होती है? विचारना क्या स्मृतियों का सिलसिला नहीं है? यादों की एक गठरी। स्मृति हमारे दिमाग में जमा होती रहती है, यह स्मृति ज्ञान के साथ आती है और ज्ञान अनुभव पर आधारित होता है। सारा वैज्ञानिक ज्ञान अनुभवों पर, सिद्धांतों और अनुमानों पर आधारित होता है। उसमें हमेशा कुछ न कुछ जुड़ता रहता है। किसी भी क्षेत्र में, चाहे वह गणित का क्षेत्र हो या जीवविज्ञान का या वायुयान संबंधी या कुछ और, हर क्षेत्र में ज्ञान का आधार अनुभव ही रहता है। ज्ञान में हमेशा ही कुछ न कुछ जुड़ता जाता है, संचित होता जाता है। इस तरह, अनुभव सीमित ही होता है, और इसीलिए ज्ञान भी सीमित होता है, आज भी और भविष्य में भी। और जो चीज़ सीमित होगी वह द्वंद्व का कारण होगी ही। कोई अगर दिन-रात केवल अपने ही बारे में सोचता रहे—जैसा कि अधिकतर लोग किया करते हैं, बस अपनी ही चिंताएं, अपनी ही समस्याएं, अपनी ही पसंद-नापसंद की बातें, लगातार बस अपने से ही सरोकार की बातें—यह जीने का बहुत ही सीमित व संकुचित तौर-तरीका है, और चूंकि यह सीमित है, तंग है, इसलिए यह अपरिहार्य रूप से द्वंद्व पैदा करने वाला है, टकराव पैदा करने वाला है। जब दिमाग कहता है, 'हम ब्रिटिश हैं', तब वह दिमाग बहुत सीमित, संकुचित हो गया होता है और इसीलिए वे लोग लगातार लड़ाइयां करते रहते हैं, वे

अपना साम्राज्य गंवा बैठे हैं। इस तरह, सुरक्षा चाहने वाला हर देश विचारों की, संस्कृति व भाषा की सीमा खड़ी कर लेता है और इसलिए सीमित हो जाता है। हर प्रकार की सीमितता, अपरिहार्य रूप से द्वंद्व व द्वैत पैदा करती ही है। और, हम इस सीमितता में सुरक्षा महसूस करते हैं, क्योंकि दिमाग तो हर समय किसी न किसी तरह की सुरक्षा की चाहत में ही लगा रहता है, चाहे वह सुरक्षा एक भ्रांति हो या वास्तविकता। लेकिन अधिकतर हम लोग सुरक्षा चाहते ही हैं, भ्रांति के किसी न किसी रूप में। ये सब तथ्य हैं। और इसीलिए विचार हमेशा सीमित रहता है, एक सीमा में ही रहता है। वह बड़े विस्तार से सोच सकता है, वह असीम क्षितिज की, असीम अंतरिक्ष की कल्पना कर सकता है, लेकिन चूंकि वह सोचता है, कल्पना करता है, इसलिए यह रहता है सीमित ही।

जहां कहीं सीमा होगी वहां युद्ध तो होगा ही, द्वंद्व व टकराव तो होगा ही, क्योंकि सीमा बांटती है, अलग करती है। तो, जब आप यह बात देख लेते हैं तब क्या आप ब्रिटिश होने से विरत हो जाते हैं, जर्मन, फ्रेंच, भारतीय होने से तथा इस तरह की बेतुकी बातों से विरत हो जाते हैं? क्योंकि तब आपका दिमाग अनोखे रूप में सीमितता से मुक्त हो गया होता है और तब उसमें अपार ऊर्जा आ जाती है। अतः, सीमित, संकुचित होकर जीना तो जीवन को व्यर्थ गंवाना है। हर समय जब कोई बस अपने ही बारे में सोचता रहता हो, जैसे ध्यान कैसे लगाऊं, धार्मिक कैसे बनूं, सुखी कैसे बनूं, वगैरह, वगैरह, समस्याओं से छुटकारा कैसे पाऊं, यह सब अपने ही बारे में सोचना तो है। अपने बारे में यह सब सोचते रहना बहुत सीमित है और इसीलिए हमारे संबंधों में हमेशा ही द्वंद्व रहता है, टकराव रहता है। तो, जैसा कि हमने कहा है, विचार और समय द्वंद्व के बड़े कारणों में से एक हैं। कोई अगर इस बात को गहराई तक समझ ले, केवल शाब्दिक रूप में या किसी की कही गई बात को दोहरा देने के रूप में नहीं बल्कि ऐसे जैसे कि आपने इसे स्वयं देख

लिया हो, इसके सत्य को स्वयं देख लिया हो, तब यह बोध ही आपके दिमाग को द्वंद से मुक्त कर देता है।

तो, उससे यह सवाल पैदा होता है: क्या यह संभव है कि अपने परस्पर संबंधों में, स्त्री, पुरुष, लड़का, लड़की, वगैरह, वगैरह संबंधों में इस तरह रह सकते हैं जिसमें कि द्वंद का साया भी न हो?

इस बात को समझने के लिए हमें यह समझना होगा कि हमारे संबंध क्या हैं, असल में क्या हैं, न कि वैसे जैसा कि हम सोचते हैं कि वे होने चाहिए। यह वास्तविकता, यह तथ्य कि एक दूसरे के साथ हमारे संबंध क्या हैं—चाहे वे स्त्री-पुरुष के बीच हों या व्यक्ति-व्यक्ति के बीच हों, हमारा संबंध है क्या? नितान्त अपने भरोसे जीना शायद हमारे लिए संभव न हो। भले ही हम किसी मठ में रहने चले जाएं, या भारत अथवा एशिया के किसी देश में रहने चले जाएं और सत्य की या गुरु की तलाश में हिमालय में गुमनाम जिंदगी बिताने लगे, लेकिन इस धरती पर रहते हुए हम बिना संबंध वाला जीवन जी ही नहीं सकते। जीवन में संबंध सबसे अधिक महत्वपूर्ण चीज़ है। और उसी संबंध में द्वंद आ बसा है, चाहे आप विवाह करें या न करें, चाहे तलाक हो या न हो। लेकिन उस संबंध में दरअसल होता क्या है? एक दूसरे की यौनेच्छापूर्ति से अलग, क्या हम एक दूसरे का इस्तेमाल नहीं कर रहे हैं, एक दूसरे का शोषण नहीं कर रहे हैं, एक दूसरे के जरिए अपनी ही इच्छा को, तलब को पूरा करने की कोशिश में नहीं लगे रहते हैं? और, इस द्वंद का प्रेम के साथ क्या संबंध है? संबंधों में? क्या द्वंद और प्रेम दोनों साथ-साथ रह सकते हैं? क्या ईर्ष्या, विरोध-प्रतिरोध का भाव, हर एक का अपने ही रास्ते पर चलना, हर एक का अपनी ही महत्वाकांक्षा, उपलब्धि, तलब को पूरा करने की जुगाड़ में रहना? हमबिस्तर होना, बच्चे पैदा करना, लेकिन द्वंद चलते रहना। लेकिन, क्या संबंध में द्वंद का अंत हो सकता है?

तो क्या किया जाए, वही बात, यह देखा जाए कि संबंधों में द्वंद्व का कारण क्या है? क्या वह इच्छा है? क्या वह एक दूसरे पर मालिकपन वाला भाव है, क्या वह परस्पर निर्भरता है—‘मैं तुम्हारे बिना नहीं रह सकता’? और फिर यही निर्भरता मालिकपन वाला भाव पैदा करती है, और जहां मालिकपन वाला भाव होगा वहां कमज़ोरी होगी ही।

यह वक्ता कोई कपोल कल्पित बातें नहीं सुना रहा है, बल्कि हकीकत बयान कर रहा है। और हकीकत यह है, तथ्य यह है कि हम में प्रेम ही नहीं है। भले ही हम प्रेम के बारे में बहुत बातें करते हों, कहा करते हों, ‘मैं तुम्हें बहुत प्रेम करता हूँ या करती हूँ’—यह सब आप अच्छी तरह जानते हैं। लेकिन इस तरह की बातों में छिपी होते हैं निर्भरता, मोहबंधन, आसक्ति, डर, प्रतिरोध, पनपती ईर्ष्या। मानव संबंधों का पूरा ढांचा अपनी इन्हीं चीजों से खड़ा हुआ है—यंत्रणा, भय, नफ़ा, नुकसान, हताशा, उदासी, अवसाद। क्या आपको भी यह सब मालूम नहीं है? जब वास्तविक सच आपके सामने आता है तब आप कितने ख़ामोश हो जाते हैं। लेकिन इस सब का अंत कैसे हो ताकि परस्पर हम, स्त्री-पुरुष, परस्पर सच्चे संबंध में रह सकें। क्या सच्चा संबंध एक दूसरे का ज्ञान होता है? इस बात को देखिए, समझिए, इस पर गौर कीजिए। जैसे, मैं कहूँ कि मैं अपनी पत्नी को जानता हूँ, इसका मतलब क्या हुआ? जब आप कहते हैं, ‘मैं उसे जानता हूँ, वह मेरी पत्नी है’, तो इस कथन का अर्थ क्या हुआ? या यह मेरी गर्ल फ्रेंड है, या कुछ और, तो वास्तव में इसका अर्थ क्या होता है? क्या यह सब सुखभोग, पीड़ा, ईर्ष्या, जद्दोजहद परस्पर संबंध है जिसमें कि कभी-कभार कुछ सौम्यता की, मृदुता की झलक भी दिख जाती हो? क्या यह सब प्रेम के अंग-रूप हैं? क्या मोह बंधन, आसक्ति, अनुराग प्रेम हैं? सर, ये जो प्रश्न मैं पूछ रहा हूँ, इनमें उतरिए, इनमें खोजिए, सर। कोई अपनी पत्नी के प्रति मोहग्रस्त है, प्रबल रूप से उसके मोह बंधन में है। इस मोह का, इस आसक्ति का अर्थ क्या है?

इसका अर्थ है कि मैं अकेला नहीं रह सकता, इसलिए मुझे कोई चाहिए जिस पर मैं निर्भर रह सकूँ, चाहे वह पति हो या मनोचिकित्सक हो, या—आप जानते ही हैं—गुरु हो, वगैरह, वगैरह बेकार की चीज़ें! जहाँ भी मोह, आसक्ति या अनुराग होगा वहाँ उसके खो जाने का भय भी होगा। इसलिए, जहाँ कहीं ये होंगे वहाँ मालिकपन वाला भाव भी गहराई तक रहेगा जो कि भय को भी पैदा करेगा।

तो, क्या हम अपने संबंधों के तथ्य को, असलियत को देख सकते हैं, और क्या खुद ही खोज करके यह पता लगा सकते हैं कि संबंधों में विचार का क्या स्थान है? जैसा कि हमने कहा, विचार सीमित होता है, जो कि एक तथ्य है। और, अगर हमारे संबंधों में विचार एक प्रमुख कारक बन जाता है, तब वह संबंध उस कारक के अनुरूप ही सीमित हो जाता है, और इस तरह हमारे परस्पर संबंध भी सीमित हो जाते हैं, और उसके फलस्वरूप उसमें द्वंद्व, द्वैत, टकराव पैदा हो जाते हैं। अरब और इज़राइलियों के बीच द्वंद्व रहता है क्योंकि उनमें से हर एक अपने ही संस्कारों से आबद्ध है, यानी हर एक पहले से ही 'प्रोग्राम्ड' किया हुआ है, बिल्कुल किसी कंप्यूटर की तरह। मैं जानता हूँ कि सुनने में यह बात कटु लग सकती है लेकिन यह एक तथ्य है। जब किसी को बता दिया जाता है—बचपन से ही—कि तुम भारतीय हो, या ब्रिटिश हो, या फ्रेंच हो या जर्मन हो, या कुछ और हो, कि तुम किसी खास किस्म से हो, या सामाजिक तौर पर, धार्मिक तौर पर अमुक वर्ग से हो, तो आप संस्कारग्रस्त हो जाते हैं और फिर आजीवन आप वही बने रहते हैं।

इस तरह, हमारे संबंध, जो कि हमारे जीवन की सबसे अनोखी व अद्भुत चीज़ हैं, वही हमारे जीवन को बेकार गंवा देने वाले कारणों में से एक हो जाते हैं। इस तरह, अपने संबंधों में हम अपना जीवन बेकार गंवा रहे हैं। लेकिन, जब आप इस बात का असल सच देख लेते हैं, इस पर गौर करते हैं, यानी विचार तथा समय के अपने स्वभाव को बहुत गहराई तक समझ

लेते हैं तब आप जान पाते हैं कि प्रेम के साथ इन बातों का कुछ भी लेना-देना नहीं है, कोई सरोकार नहीं है। विचार और समय हमारे दिमाग में चलने वाली हरकतें हैं। जब कि, प्रेम दिमाग की परिधि से बाहर रहने वाली चीज़ है। मेहरबानी करके इसे सावधानीपूर्वक समझिए क्योंकि इस कपाल में, इस खोपड़ी के भीतर जो कुछ चलता है, वह बहुत महत्व रखता है: देखिए कि यह किस तरह काम करता है, इसके अटकाव क्या हैं, यह सीमित क्यों है, यह बतियाता क्यों रहता है। एक विचार के साथ जुड़ कर आता दूसरा विचार, जाने किस-किस से जुड़ी बातें, प्रतिक्रियाएं, अनुक्रियाएं—इस सब का लगातार सिलसिला, यादों का गोदाम है यह, और निस्संदेह, इनमें से कुछ भी प्रेम तो नहीं है। इसलिए, प्रेम दिमाग के अंदर, कपाल के अंदर न हो सकता है और न ही होता है। लेकिन जब हम हर समय केवल अपने कपाल के, अपने दिमाग के ही भीतर रहा करते हैं, दिन भर और जीवन भर जब हम समस्या दर समस्या बस सोचते, सोचते और सोचते ही रहते हैं, तब यह जीना सीमा में, एक संकुचित दायरे में जीना ही होता है, और ऐसा जीना अपरिहार्य रूप से द्वंद्व और दुख को ही पैदा करने वाला होता है।

लेकिन, इसके लिए हम क्या करें? क्या हम पुराने ढर्रे पर ही चलते रहें? या अपने जीवन की, अपने दैनिक जीवन की वास्तविकता को देखते चलें, इसके वर्गीकरण को, विभाजनों और सीमितताओं को देखते चलें, और दिन-प्रतिदिन उनके बारे में खोजबीन व जांच-पड़ताल करते चलें, और किसी भी विचार को समझे बिना उसे यूँ ही जाने न दें? या यह कि हम हर बात के इतने आदी हो गए हैं—अपने धर्म के, अपने जीवन के ढंग के—कि हर बात को जस का तस स्वीकार कर लेते हैं। दरअसल जो चीज़ हम वाकई चाहते हैं वह है सरल जीवन, आसान सी जिंदगी! जो हम चाहते हैं वह आराम, किसी तरह की सुरक्षा—बाहरी भी और भीतरी भी, शारीरिक रूप से भी और विषयनिष्ठ रूप से भी। हम कभी यह पूछते ही नहीं हैं कि क्या सचमुच

सुरक्षा कुछ होती भी है? बाहरी तौर से किसी भी देश में कोई सुरक्षा है भी? अगर सामुदायिकता में, किसी सहकारी राज्य में, या तानाशाही के, एक दलीय शासन तंत्र के राज्य में, या विभिन्न तरह की तानाशाही के अधीन किसी राज्य में सुरक्षा हो भी, तो क्या तब भी वह सुरक्षा रहती है जब युद्ध हो जाए? हर दिन कहीं न कहीं युद्ध चल रहा होता है, लगातार। क्या बाहरी तौर पर सुरक्षा है? वहां तो खतरा ही है। लेकिन क्या भीतरी तौर पर, मनोवैज्ञानिक तौर पर भी कोई सुरक्षा है, और यह जानना कहीं अधिक महत्वपूर्ण है: क्या भीतरी तौर पर गहरी सुरक्षा, सचमुच है? सुरक्षा होती क्या है? बाहरी तौर पर आप बीमा करा सकते हैं, मॉर्टगेज करा सकते हैं, आप इस सब से अवगत ही हैं, इसलिए इसके विस्तार में जाने की आवश्यकता मुझे नहीं है। बाहरी सुरक्षा तो आवश्यक है और होनी भी चाहिए—एक घर, प्लैट, टैंट, यानी एक प्रकार की छत जिसके नीचे आदमी सो सके, रह सके, और कपड़े वगैरह। ये तो उसके पास होने ही चाहिए। संसार में हर व्यक्ति के पास ये होने चाहिए। लेकिन अलग-अलग बंटे हुए राष्ट्रों के चलते इसे नकारा जा रहा है—ब्रिटेन, फ्रांस, भारत, रूस, अमेरिका वगैरह। लेकिन, क्या भीतरी तौर पर कोई सुरक्षा है? कोई कुछ भी भ्रम पाल लेता है—ईश्वर तो आखिरी भ्रम है ही। आप उससे आबद्ध हो सकते हैं, उसे थामे रह सकते हैं। इतिहास के हज़ारों वर्षों से हम इसी भ्रम में रहते आए हैं—पंडितों, पादरियों, मौलवियों के साथ, परंपराओं व परिपाटियों से बंधे हुए, और फिर इनके सारे तामझाम के साथ—शक्ति, अधिकार, वगैरह, वगैरह। जो लोग सत्ता चाहते हैं उनके लिए बाहरी तौर पर ये सब चीज़ें बड़ा महत्व रखती हैं—शक्ति, अधिकार, पद, प्रतिष्ठा। लेकिन विचित्र बात यह है कि सत्ता हिंसक और विनाशक होती है, चाहे वह राजनैतिक हो, धार्मिक हो, या आपकी पत्नी पर या पति पर हो, या आपके गुरु की हो, किसी भी धर्म के धर्माधिकारी की हो।

लेकिन इस सबमें मानव की, इंसान की सुरक्षा कहां है? कृपया यह सवाल खुद से पूछिए। एक इंसान के रूप में आप

इस धरती पर क्या कहीं रहे हैं? इस धरती पर जो कि कमाल की सुंदर है, लेकिन जो धीरे-धीरे बरबाद की जा रही है, कहां है हमारी सुरक्षा? सुरक्षा का अर्थ है कोई ऐसी चीज़ जो स्थाई हो, कोई ऐसी चीज़ जो परिवर्तित न होती हो, जो लुप्त न होती हो, जो स्थिर हो, ठोस हो, अचल व अटल हो। क्या कहीं कोई ऐसी सुरक्षा है? क्योंकि दिमाग़ सुरक्षा चाहता है, वरना तो वह अपने अधिकतम स्तर पर काम नहीं कर सकता। लेकिन इसने तरह-तरह की सुरक्षाएं पाल ली हैं: भ्रांतियां, विचारधाराएं, परिवार, देश, जातियां, तरह-तरह की बाहरी सुरक्षा, पर इंसान ने एक गहरी, टिकाऊ और नित्य सुरक्षा का भीतरी भाव कभी नहीं पाया है। लेकिन क्या ऐसी कोई सुरक्षा होती भी है? यदि कोई ऐसी सुरक्षा है और यदि वह इंसान को नसीब हो जाए, तो फिर उसे किसी तरह का कोई भय नहीं रहेगा। वह सुरक्षा अनंत व असीम होगी।

तो क्या ऐसी कोई सुरक्षा होती भी है? विचार तो शायद ही ऐसी सुरक्षा उपलब्ध करा सके क्योंकि विचार, जैसा कि मैंने कहा, सीमित होता है। वह जो कुछ भी रचता है, वह भी सीमित ही होता है। इस तरह हम विचार की सीमा में ही रहते आए हैं, लेकिन उस सीमा में सुरक्षा की कभी कोई संभावना नहीं रहती है, और इसीलिए हमारा दिमाग़ हमेशा तलाश में रहता है, पूछता और सवाल करता और मांग करता रहता है, भयभीत, अनिश्चित और दबा-दबा रहता है—हमारी तमाम गतिविधियों का सारा सिलसिला यही तो रहता है। लेकिन सुरक्षा—हां, सुरक्षा जैसी एक चीज़ होती है। किंतु उसके लिए बहुत अधिक पड़ताल की आवश्यकता होती है। वह सुरक्षा है स्वतंत्र होना, मुक्त होना। स्वतंत्र होना किसी चीज़ से मुक्त होना नहीं होता, जैसे भय से मुक्त होना, चिंता से मुक्त होना, वगैरह, वगैरह। वह तो आंशिक स्वतंत्रता होती है, सीमित होती है। लेकिन वह वाली स्वतंत्रता सीमित नहीं होती। क्या ऐसी स्वतंत्रता होती है? लेकिन यह प्रश्न पूछ कौन रहा है? कारागार में बैठा आदमी पूछ रहा है, 'क्या ऐसी कोई स्वतंत्रता होती है?' ऐसी स्वतंत्रता

उसे तभी मिल सकती है कि जब वह कारागार को छोड़ दे। लेकिन हमें तो कारागार में रहना पसंद है, हम उसी में रहना चाहते हैं, और फिर भी हम स्वतंत्रता चाह रहे हैं। यह सीधी-सच्ची बात है—या तो हमें अपने कारागार से लगाव है या हम उससे अनभिज्ञ हैं, यानी हम जानते ही नहीं कि हम कारागार में हैं। और, जब इसको, आपके कारागार को, दिखाया जाता है, तब आप केवल इतना करते हैं कि उन शब्दों को स्वीकार करने की कोशिश करते हैं, बस; लेकिन उस कारागार से बाहर आने की कोशिश कभी नहीं करते। जहां स्वतंत्रता होती है वहां प्रज्ञा होती है। ऐसी स्वतंत्रता स्वयं में संपूर्ण सुरक्षा होती है—अटल, अविचल। क्योंकि, वह किसी चीज़ पर निर्भर नहीं होती, न वातावरण पर, न व्यक्ति पर, और न ही किसी प्रकार की विचारधारा पर।

तो, आज हमने जीवन की कई ऐसी समस्याओं पर चर्चा की है जो कि बहुत, बहुत, बहुत जटिल हैं, लेकिन जो चीज़ बहुत जटिल हो उसे बहुत सीधे-सरल तरीके से देखा-समझा जाना चाहिए। सादगी वाले मन से नहीं, बल्कि विनम्रता तथा सादगी वाले स्वभाव से। इसके लिए कपड़ों वगैरह वाली सादगी नहीं चाहिए, बल्कि दिमाग की ऐसी सादगी चाहिए जो कि खोज की यात्रा आरंभ कर सके और तब तक न रुके जब तक कि वह उसका छोर न पा ले, अंतिम गंतव्य न पा ले।

आज इतना ही।

(ब्रॉकवुड पार्क, प्रथम सार्वजनिक वार्ता, अगस्त 1984)

कॉपीराइट सूचना

जे. कृष्णमूर्ति के उद्धरण अंतर्राष्ट्रीय कॉपीराइट नियम के अंतर्गत संरक्षित हैं तथा सर्वाधिकारी की लिखित पूर्वानुमति के बिना किसी भी रूप में पुनः प्रस्तुत नहीं किये जा सकते हैं। सन् 1968 के पूर्व की कृष्णमूर्ति की रचनाओं का कॉपीराइट कृष्णमूर्ति फाउंडेशन ऑफ अमेरिका, ओहायो, कैलिफोर्निया का है। सन् 1968 के बाद की रचनाओं का कॉपीराइट कृष्णमूर्ति फाउंडेशन ट्रस्ट, ब्रॉकवुड पार्क, इंग्लैंड का है।

हिंदी में उपलब्ध जे. कृष्णमूर्ति की कुछ पुस्तकें

- ❖ ज्ञात से मुक्ति
- ❖ प्रथम और अंतिम मुक्ति
- ❖ हिंसा से परे
- ❖ आमूल क्रांति की आवश्यकता
- ❖ अंतिम वार्ताएं
- ❖ शिक्षा एवं जीवन का तात्पर्य
- ❖ स्कूलों के नाम पत्र
- ❖ सुखी वही जो कुछ भी नहीं
- ❖ ईश्वर क्या है?
- ❖ आपको अपने जीवन में क्या करना है?
- ❖ ध्यान
- ❖ जीवन और मृत्यु
- ❖ ये रिश्ते क्या हैं?
- ❖ शिक्षा क्या है?
- ❖ सोच क्या है?
- ❖ आज़ादी की खोज
- ❖ प्रेम क्या है? अकेलापन क्या है?
- ❖ सत्य और यथार्थ
- ❖ मन क्या है?

- ❖ जे. कृष्णमूर्ति परिसंवाद (हिंदी त्रैमासिक पत्रिका)
- ❖ स्वयं से संवाद (निःशुल्क हिंदी न्यूज़लेटर)

विस्तृत जानकारी के लिए संपर्क करें :

कृष्णमूर्ति सेंटर

कृष्णमूर्ति फाउंडेशन इंडिया

राजघाट फोर्ट, वाराणसी 221 001

ईमेल : kcentrevns@gmail.com

फोन : 0542-2441289 www.rajghatbesantschool.org

www.j-krishnamurti.org www.jkrishnamurTIONline.org

www.kfionline.org www.jkrishnamurti.org

‘कृष्णमूर्ति फाउंडेशन इंडिया’ के लिए प्रकाशक, मुद्रक प्रो. पी. कृष्णा द्वारा सत्तनाम प्रिंटिंग प्रेस, एस-1/208 के-1, नयी बस्ती, पांडेयपुर, वाराणसी 221 002 से मुद्रित एवं कृष्णमूर्ति फाउंडेशन इंडिया, राजघाट फोर्ट, वाराणसी 221 001 (उ.प्र.) से प्रकाशित।
संपादक : चैतन्य नागर